



दलित साहित्य कि प्रासंगिकता एवं महत्त्व (एक आलोचनात्मक अध्ययन)

साक्षी सिंह

पीएच. डी., हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत।

प्रस्तावना

भारत में १९वीं शताब्दी के आठवें दशक से समाज, संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में अस्मिता विमर्श का समय शुरू होता है। दलित आन्दोलन, विमर्श और साहित्य के विशेष सन्दर्भ में देखें तो ज्योतिबा फूले (१८२७-९०) के चिंतन में इसके बीज दिखाई देने लगते हैं। तमिलनाडु के रामास्वामी नायकर पेरियार (१८७९-१९७३) के आन्दोलन से इसे गति मिलती है। इन दोनों के बीच आते हैं डॉ. अम्बेडकर (१८९१-१९५६) और उनका विचार दर्शन, फूले के चिंतन से बहुजन अस्मिता का निर्धारण होता है। पेरियार द्रविण अस्मिता के पक्षधर के रूप में सामने आते हैं और दोनों के बाद डॉ. अम्बेडकर अस्मिता से अधिक महत्त्व अस्तित्व के प्रश्न को दिया एवं समग्र मुक्ति की अवधारणा को महत्त्व दिया। इस सन्दर्भ में मोहनदास नैमिषराय ने कहा है कि- "हालाँकि साहित्य में दलित वर्ग की बौद्धिकाल से मुखरित रही है किन्तु एक लक्षित मानवाधिकार आन्दोलन के रूप में दलित साहित्य मुख्यतः २०वीं सदी की दे है।"

डॉ. अम्बेडकर की दृष्टि को आधार बना कर आगे बढ़ता दलित साहित्य अपनी प्रवृत्तियों और प्रतिबद्धता के आधार पर आधुनिक मूल्यों से प्राणित है। सदियों पुराने जातिगत ढाँचे को तोड़ने का इसका प्रयास सम्मान योग्य है। इसमें स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के आधुनिक आदर्श निहित हैं साथ ही वस्तुस्थिति के प्रति असंतोष और परिवर्तन की जबरदस्त इच्छा मूर्त है। हालाँकि हिंदी साहित्य के यथास्थितिवादी तत्व दलित साहित्य की जीवन्तता और परिवर्तन की मूलभूत चेतना को अनदेखा कर उस पर जातीय संकीर्णता और अपरिपक्वता का आरोप लगाते हैं। इस सन्दर्भ में डॉ. ओमप्रकाश वाल्मीकि जी कहते हैं कि 'आदर्शवाद की महीन बुनावट में असमंजस की स्थितियाँ यथास्थितिवाद को ही पुख्ता करती हैं। ये आदर्शवादी स्थितियाँ हिंदी क्षेत्रों में किसी बड़े आन्दोलन को जन्म ना ले पाने के कारणों में से एक हैं।"

दलित साहित्य के माध्यम से जड़ हो चुकी असमानता के प्रति जताया जा रहा विद्रोह मात्र शोर-शराबे पर आधारित नहीं है। अपितु दलित साहित्यकारों और आलोचकों ने तर्कशीलता और गहन विश्लेषण के आधार पर दलित तबके के हक व अधिकार के प्रति अपनी प्रतिबद्धता दिखाई है।

आलोचना कि ये जिम्मेदारी है कि वह टेक्स्ट के विविध आयामों की व्याख्या कर उसकी प्रासंगिकता के पक्ष-विपक्ष दोनों ही पहलुओं को पाठक के समक्ष रखे। आलोचना सदैव पाठक और पाठ के मध्य एक ऐसे सेतु का कार्य करती है जिसके द्वारा पाठक रचना के वास्तविक उद्देश्य के साथ ही रचना प्रक्रिया की परिस्थितियों को भी समझ सकता है। साहित्यिक क्षेत्र में भिन्न भाषा, परिवेष एवं परिस्थितियों के निहितार्थ और मानक भी भिन्न होते हैं ऐसे में आलोचक कि जिम्मेदारी है कि वे मूल्यों के आधार पर गुण-दोष वर्णन करने की जगह रचना की मूलभूतता तक पहुंचने का प्रयास करें। इसी आवश्यकता के मद्देनजर साहित्य की विभिन्न विधाओं एवं लक्षणों के अनुसार ही आलोचना के भी विभिन्न आयाम विकसित

हो रहे हैं।

तमाम विरोधों के बावजूद हिंदी क्षेत्र में दलित साहित्य को एक नवीन साहित्यिक धारा के रूप में स्वीकृति मिल चुकी है। इस धारा के साहित्यकारों की रचना-प्रक्रिया, रचना के तत्व, सौन्दर्यशास्त्र की प्रचलित मान्यताओं से बिल्कुल भिन्न हैं अतः दलित आलोचना के प्रतिमान भी परम्परा से भिन्न हैं। दलित साहित्य के उदय से पूर्व हिंदी क्षेत्र में जो भी रचनाकार थे (भले ही वे जाति से दलित रहे हों) उनमें दलित चेतना का प्रायः अभाव था और वे पारम्परिक प्रतिमानों पर ही आधारित रचनाएँ कर रहे थे और उनके समीक्षात्मक मूल्य भी पारम्परिक थे, संस्कृत और पाश्चात्य, दोनों ही आलोचनात्मक धाराएँ निःसंदेह अत्यंत समृद्ध थीं इस बात को भी नकारा नहीं जा सकता कि संस्कृत आलोचना के स्वर में कभी दलित चेतना को स्थान नहीं मिला और पाश्चात्य आलोचना सिद्धांतों में ऐसे किसी नुक्ते के होने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि जातिवादी समस्या भारत की विशेष समस्या है। इसलिए दलित साहित्यकार और आलोचक इन दोनों ही परम्पराओं से भिन्न एक तीसरी परंपरा की बात करते हैं, किन्तु हिंदी क्षेत्र के गैर-दलित लेखक व आलोचक इस बात को स्वीकार नहीं करते, उनका आरोप है कि दलित लेखन में दोहराव की स्थितियाँ हैं।

मगर मसला ये है कि दोहराव हो कि तिहाराव उसके बाद भी दलित साहित्य भारतीय जनता के एक बड़े हक और हुकूम की लड़ाई लड़ रहा है। रही बात दोहराव की तो एक वक्त के बाद हर तरह के साहित्य में ऐसी परिस्थितियाँ बंधी जाति हैं। हर टार का साहित्य मोनोटोनस हो जाता है आदिकाल से अब तक किसी भी साहित्य को उदाहरण स्वरूप लिया जा सकता है, दलित साहित्य में तो अभी भी बहुत काम करने की जगह बाकी है, अभी ये साहित्य बड़ी संभावनाएँ लिए हुए है।

ऐतिहासिक दृष्ट से मूल्यांकन करें तो दलित वैचारिकी की विकासयात्रा साहित्य के क्षेत्र में उतनी ही प्राचीन है जितनी कि स्वयं मुख्यधारा या ब्राह्मणवादी धारा, जाति प्रथा के उद्भव के साथ ही साहित्य और दर्शन दोनों ही क्षेत्रों में रचनाशीलता की लम्बी प्रक्रिया रही है। मगर सत्तासीन वर्ग ने कभी भी उसे जनसामान्य तक यथा रूप पहुंचने नहीं दिया और अपने करीत विद्वानों द्वारा उस विरोधी विचारधारा की व्याख्या अपने अनुरूप करवा ली।

प्राचीन भारत का भौतिकवादी लोकायत दर्शन, आजीवक परम्परा, सांख्य, बौद्ध और जैन दर्शन आदि मत आम तौर पर पुरोहितवाद और ब्राह्मणवाद के विरोधी दर्शन थे, इन्हीं दर्शनों की विभिन्न शिक्षाओं के आधार पर तत्कालीन समाज के निचले तबके ने अपने लिए वर्जित क्षेत्रों को लांघने की कोशिश आरम्भ कर दी थी।

डॉ. बजरंग बिहारी तिवारी लिखते हैं कि- "वर्ण-जाति व्यवस्था का निषेध करने वाले बौद्ध परम्परा के संस्कृत महाकवि अश्वघोष ने वन्वादिओं को उन्हीं की शब्दावली में समझाते हुए "वज्रसूची" में लिखा था- "यथैकवृक्षोत्पन्नानां

फालानाम नास्ति वर्षेदस्थैक पुरुशोत्पन्नानाम पुरुषाणाम
नास्तिवर्णभेदः.....इसके बाद भी यदि कोई जातिवाद में विश्वास करता है तो
बौद्ध परम्परा के दुसरे विद्वान धर्मकीर्ति के शब्दों में 'नष्ट बुद्धि जड़ प्राणी' कहा
जाना चाहिए"³

जातिवादी हिंसा से जूझने का इतिहास काफ़ी पुराना रहा है. बौद्ध परम्परा के बाद
हमें भक्ति कालीन संत काव्य परम्परा में भी हमें जातिप्रथा विरोधी स्वर सुनाई देते
हैं और उसीका परिणाम है कि डॉ.धर्मवीर ने कबीर पर केन्द्रित छः पुस्तकें लिखीं
हैं. राजेंद्र सिंह कहते हैं कि- "सिद्ध साहित्य की भाँती संत साहित्य के भी अनेक
कवि दलित-शूद्र और पिछड़ी जातियों से आए थे". इसी प्रकार डॉ.चमनलाल भी
संत साहित्य के योगदान को दलित साहित्य के लिए महत्वपूर्ण बताते हुए लिखते
हैं कि- "आधुनिक दलित साहित्य की जड़ें कबीर और रविदास की वाणी में देखि
जा सकती हैं"⁴ सही मायनों में कबीर और रविदास हिंदी दलित साहित्य के
अग्रदूत हैं किन्तु वो राजशाही तानाशाहियों का समय था. सभी शक्तियां सामंतों
राजाओं के हाथों में केन्द्रित थीं सो उन्होंने अपने विरुद्ध उठ रहे स्वर को चेतना
रूप में स्थापित होने नहीं दिया.लेकिन सत्ता के विरोधों के बावजूद ये चेतना
अंकुरित होती रही और भारत की अंग्रेजों से स्वतंत्रता के बाद संवैधानिक
लोकतंत्र की स्थापना के साथ ही ये अंकुर बढ़ कर एक छायादार वृक्ष बन चुका
है.

दलित साहित्य की मुख्य धारा अम्बेडकरी विचारधारा को अपना मूल मान कर
चलती है किन्तु इसकी एनी धाराएं भी हैं जो अम्बेडकरी धारा से अलग हैं.
सभी का उद्देश्य जाति का अंत ही नहीं है. कुछ जाति व्यवस्था को शाश्वत मान
कर चल रही हैं. अतः अम्बेडकरी धारा को मुख्या मोर्चे के साथ-साथ इन सब
मोर्चों पर भी जूझना पड़ रहा है. गैर-दलित धारा स्थापित साहित्यकारों व
समीक्षकों के दलित साहित्य और लेखन पर विमर्श मात्र होने के आक्षेप का
खंडन करते हुए दलित चिंतकों ने इतिहास के हवाले से अपनी चिंतन धारा और
साहित्य को दलित समाज की वास्तविक अभिव्यक्ति माना है. दलित चिन्तक
इतिहास को अधिनायकवादी चश्में से देखे जाने का विरोध करते हैं. कँवल भारती
जी कहते हैं कि- "सवर्ण आलोचक आलोचना की दूसरी धारा चला सकते हैं तो
हम तीसरी धारा क्यों नहीं चला सकते जो ब्राह्मणवादी और प्रगतिवादी दोनों ही
आलोचना पद्धतियों से भिन्न होगी"⁵

दलित समीक्षकों का समीक्षात्मक क्षेत्र केवल दलित रचनाकारों की रचनाएँ नहीं
बल्कि गैर-दलित रचनाकार व उनकी रचनाएँ भी हैं. उन्होंने यह स्पष्ट करने का
प्रयास किया है कि क्या अब तक का लिखा गया साहित्य वास्तव में समाज के
हित के लिए लिखा गया था अथवा मात्र किसी वर्ग विशेष के हित साधन के
लिए.

सन्दर्भ

1. भारतीय दलित आन्दोलन. सम्पादक-मोहनदास नैमिषराय पृष्ठ सं.12
2. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र. ओमप्रकाश वाल्मीकी. भूमिका
3. दलित साहित्य एक अंतर यात्रा. बजरंग बिहारी तिवारी. पृष्ठ सं.1
4. गुरु रविदास; दलित साहित्य के अग्रदूत. चमन लाल. पृष्ठ सं.42
5. दलित साहित्य व विमर्श के आलोचक. कँवल भारती. पृष्ठ सं.2